॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः
(बारहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन बोले—

ये	=जो	**त्वाम्**	=आप (सगुण-साकार)की	**अव्यक्तम्**	=निर्गुण-निराकारकी
भक्ताः	=भक्त	**पर्युपासते**	=उपासना करते हैं	**अपि**	=ही (उपासना करते हैं),
एवम्	=इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार)	**च**	=और	**तेषाम्**	=उन दोनोंमेंसे
सततयुक्ताः	= निरन्तर आपमें लगे रहकर	**ये**	=जो	**योगवित्तमाः**	=उत्तम योगवेत्ता
		अक्षरम्	=अविनाशी	**के**	=कौन हैं?

विशेष भाव—‘योगशास्त्र’ होनेसे गीतामें ‘योग’ मुख्य है। अतः असली योगवेत्ता कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है। योगवेत्ताओंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) योगवित् अर्थात् योगी (२) योगवित्तर अर्थात् दो योगियोंमें श्रेष्ठ योगी और (३) योगवित्तम अर्थात् सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ योगी। अर्जुनको ‘योगवित्’ और ‘योगवित्तर’ के विषयमें सन्देह नहीं है, प्रत्युत ‘योगवित्तम’ के विषयमें सन्देह है।

~~~~

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

मयि	=मुझमें	**परया**	=परम	**ते**	=वे
मनः	=मनको	**श्रद्धया**	=श्रद्धासे	**मे**	=मेरे
आवेश्य	=लगाकर	**उपेताः**	=युक्त होकर	**मताः**	=मतमें
नित्ययुक्ताः	=नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए	**माम्**	=मेरी (सगुण-साकार की)	**युक्ततमाः**	=सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।
ये	=जो भक्त	**उपासते**	=उपासना करते हैं,		

विशेष भाव—‘स योगी परमो मतः’ (गीता ६। ३२), **‘स मे युक्ततमो मतः’** (गीता ६। ४७), **‘ते मे युक्ततमा मताः’** (गीता १२। २)—इस प्रकार भगवान्‌ने जो श्रेष्ठताकी बात कही है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीको तो अन्तमें भक्ति प्राप्त होती है, पर भक्तियोगी आरम्भसे ही भक्तिमें लगा है (जो कि
~~~~

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगका फल है), इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है।

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दु:ख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिमें अनन्तरसकी प्राप्ति होती है। अनन्तरसमें प्रतिक्षण बढ़नेवाला, लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि '**ये रुपये हैं; यह घड़ी है**' आदि, तो यह ज्ञान केवल अज्ञान (अनजानपने) को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दु:ख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम (भक्ति) ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है। ज्ञानका अनुभव करनेवाला तो स्वयं होता है, पर प्रेमका अनुभव करनेवाले और ज्ञाता भगवान् होते हैं! भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। मुक्त होनेपर तो ज्ञानयोगी सन्तुष्ट, तृप्त हो जाता है (गीता ३। १७), पर प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अत: आखिरी तत्त्व प्रेम है, मुक्ति नहीं।

जैसे '**ये रुपये हैं**'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया; परन्तु उनको पानेका लोभ हो जाय कि '**और मिले, और मिले**' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है। तात्पर्य है कि संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है, ज्ञानमें नहीं। धनका लोभ तो अधिक पतन करता है, पर प्रेम ज्ञानसे भी अधिक उन्नत करता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुमें और वस्तुके ज्ञानमें नहीं है।

विवेकमार्ग (ज्ञानयोग) में सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्‌का संस्कार मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह ईश्वरसे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर ईश्वरके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु विश्वासमार्ग (भक्तियोग) में आरम्भसे ही भक्त एक ईश्वरके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह ईश्वरके साथ अभिन्न हो जाता है। ईश्वरके साथ अभिन्न होनेपर अर्थात् प्रेमका उदय होनेपर सूक्ष्म अहम् तथा उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं* अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, वे सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। ज्ञानमें परमात्मासे दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर अभिन्नता (मिलन) नहीं होती। परन्तु प्रेममें दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों ही मिट जाते हैं। इसलिये वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें इतनी शक्ति है कि इसमें भक्त भगवान्‌का भी इष्ट हो जाता है! ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति) को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है†!

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं‡; परन्तु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी

---

* **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

† **द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते मनीषया।**
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ (बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

‡ **लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

निष्ठा नहीं है। जो भगवान्में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी 'साधन भक्ति' है* और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य भक्ति' है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है।† यह साध्य भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

ज्ञानयोगमें साधक सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देकर असत्का त्याग करता है। असत्का त्याग करनेसे त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता भावरूपसे बहुत दूरतक साथ रहती है, इसलिये ज्ञानयोगमें असत्का सर्वथा त्याग बहुत देरीसे होता है। कर्मयोगमें साधक असत् वस्तुओंको त्याज्य न मानकर सेवा-सामग्री मानता है। त्याग करनेमें निकृष्ट वस्तु तो सुगमतासे छूटती है, पर अच्छी वस्तुको छोड़ना कठिन होता है। अतः अच्छी वस्तुका त्याग करनेकी अपेक्षा उसको दूसरेकी सेवामें लगाना सुगम पड़ता है। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे असत्का त्याग सुगमतासे और जल्दी हो जाता है। भक्तियोगमें जगत्को भगवान्का अथवा भगवत्स्वरूप माननेसे जगत् (असत्) बहुत शीघ्र लुप्त हो जाता है और भगवान् रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगमें असत् (जड़ता)का शीघ्र त्याग होता है और कर्मयोगकी अपेक्षा भक्तियोगमें असत्का शीघ्र त्याग होता है; क्योंकि भक्तिमें असत् रहता ही नहीं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। अतः ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २) और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**' (गीता ६। ४७)।

~~~

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

तु	= और	**कूटस्थम्**	= निर्विकार,	**सर्वभूतहिते**	= प्राणिमात्रके हितमें
ये	= जो (अपने)	**अचलम्**	= अचल,	**रताः**	= प्रीति रखनेवाले (और)
इन्द्रियग्रामम्	= इन्द्रिय-समूहको	**ध्रुवम्**	= ध्रुव,	**सर्वत्र**	= सब जगह
सन्नियम्य	= भलीभाँति वशमें करके	**अक्षरम्**	= अक्षर	**समबुद्धयः**	= समबुद्धिवाले मनुष्य
अचिन्त्यम्	= चिन्तनमें न आनेवाले,	**च**	= और	**माम्**	= मुझे
सर्वत्रगम्	= सब जगह परिपूर्ण,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्तकी	**एव**	= ही
अनिर्देश्यम्	= देखनेमें न आनेवाले,	**पर्युपासते**	= तत्परतासे उपासना करते हैं,	**प्राप्नुवन्ति**	= प्राप्त होते हैं।
		ते	= वे		

विशेष भाव—भगवान्ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वे ही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं; जैसे—'अचिन्त्य' (२। २५), 'कूटस्थ' (१५। १६), 'अचल' (२। २४),

* **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७।५।२३)

† **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८।५४)
~~~

'अक्षर' (५। १६, १८), 'अव्यक्त' (२। २५) आदि। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेक रूपसे) जो 'जीव' है, वही देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एक रूपसे) 'ब्रह्म' है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उपासकको उपास्यसे सधर्मता प्राप्त हो जाती है—'**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)।

'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ, इसलिये भगवान्‌ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

'**सर्वभूतहिते रताः**'—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण शरीर अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं और सम्पूर्ण जीव परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं। इसलिये जब साधककी सम्पूर्ण प्राणियोंमें समबुद्धि हो जाती है—'**सर्वत्र समबुद्धयः**' और वह अपने शरीरकी तरह ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना मानने लगता है—'**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**' (गीता ६। ३२), तब उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति हो जाती है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ही शरीर माननेसे वह किसीको भी बुरा नहीं समझता, किसीका भी बुरा नहीं चाहता और किसीका भी बुरा नहीं करता। इस प्रकार बुराईका त्याग होनेपर उसके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है। इतना ही नहीं, जैसे अपने दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय तो दाँतोंपर क्रोध करके उनको कोई नहीं तोड़ता, ऐसे ही जो सब प्राणियोंको अपना मानता है, उसका कोई बुरा भी करता है, तो भी उसके मनमें उसका बुरा करनेका भाव नहीं आता—'***उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥***' (मानस, सुन्दर० ४१। ४)।

बुराईका त्याग होनेपर दूसरोंकी जो सेवा होती है, वह बड़े-से-बड़े दान-पुण्यसे भी नहीं हो सकती। इसलिये बुराईका त्याग भलाईका मूल है। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वही '**सर्वभूतहिते रताः**' हो सकता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

अव्यक्तासक्त-चेतसाम्	= अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले	**क्लेशः**	= कष्ट	**अव्यक्ता**	= अव्यक्त-विषयक
तेषाम्	= उन साधकोंको (अपने साधनमें)	**अधिकतरः**	= अधिक होता है;	**गतिः**	= गति
		हि	= क्योंकि	**दुःखम्**	= कठिनतासे
		देहवद्भिः	= देहाभिमानियोंके द्वारा	**अवाप्यते**	= प्राप्त की जाती है।

विशेष भाव—निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह '**उपासक**' (जीव) है और जो देहरहित है, वह '**उपास्य**' (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्‌की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, साधनके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता १२। ७, ८। १४)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है!

सगुणोपासनामें भक्त जगत्‌को मिथ्या मानकर उसके त्यागपर जोर नहीं देता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत माना है (गीता ७। २९-३०)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता

है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है—**'त्वां पर्युपासते'** (गीता १२। १), **'मां ध्यायन्त उपासते'** (१२। ६)।

जो समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति होती है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** (गीता १२। ४), **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (१८। ५५)। अतः जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। कारण कि अपरा प्रकृति भगवान्‌की है; अतः उसकी निन्दा करनेसे वह भगवान्‌की निन्दा होती है। गुणोंका खण्डन करनेसे गुणोंकी सत्ता आ जाती है, जो बाधक होती है; क्योंकि सत्ता माने बिना साधक निराकरण किसका करेगा? अतः साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है*। सगुणकी उपेक्षा करनेसे साधक मुक्त तो हो सकता है, पर मतभेद नहीं मिट सकता। परन्तु सगुणकी उपेक्षा न रहनेसे मतभेद भी नहीं रहता और साधकको समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।

~~~

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

तु	= परन्तु	**माम्**	= मेरा	**तेषाम्**	= उन भक्तोंका
ये	= जो	**एव**	= ही	**अहम्**	= मैं
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**ध्यायन्तः**	= ध्यान करते हुए	**मृत्युसंसार-**	
कर्माणि	= कर्मोंको	**उपासते**	= (मेरी) उपासना करते हैं;	**सागरात्**	= मृत्युरूप संसार-समुद्रसे
मयि	= मेरे	**पार्थ**	= हे पार्थ!	**नचिरात्**	= शीघ्र ही
सन्न्यस्य	= अर्पण करके (और)	**मयि**	= मुझमें	**समुद्धर्ता**	= उद्धार करनेवाला
मत्पराः	= मेरे परायण होकर	**आवेशित-**			
अनन्येन	= अनन्य-	**चेतसाम्**	= आविष्ट चित्तवाले	**भवामि**	= बन जाता हूँ।
योगेन	= योग-(सम्बन्ध-) से				

विशेष भाव—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने सब तरहके सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता'**। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। साधनमें लगनेवालोंमें भी जो साधक भगवान्‌के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं; क्योंकि उसका भगवान्‌पर ही भरोसा होता है कि मेरा उद्धार वे ही करेंगे। वह अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्‌के भजनमें ही लगा रहता है। उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला अपना उद्धार स्वयं करता है।

स्वरूप-बोध होनेपर भक्ति प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर भक्ति प्राप्त होनेपर स्वरूप-बोध भी हो

---

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'
~~~

जाता है, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों दे देते हैं (गीता १०। १०-११); क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप समग्र है।

देहाभिमानके कारण ज्ञानमार्गके साधकका चित्त अव्यक्तमें 'आसक्त' होता है—'**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' (गीता १२। ५), पर भक्तका चित्त भगवान्‌में 'आविष्ट' होता है— '**मय्यावेशितचेतसाम्**'। ज्ञानमें विवेक मुख्य है, भक्तिमें विश्वास मुख्य है। ज्ञानमें अपरा प्रकृति त्याज्य होती है, भक्तिमें वह भगवत्स्वरूप होती है।

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—इस प्रकार केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध मानना 'अनन्ययोग' है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

मयि	=(तू) मुझमें	**एव**	=ही	**मयि**	=मुझमें
मनः	=मनको	**बुद्धिम्**	=बुद्धिको	**एव**	=ही
आधत्स्व	=स्थापन कर (और)	**निवेशय**	=प्रविष्ट कर;	**निवसिष्यसि**	=निवास करेगा—
		अतः	=इसके	**संशयः, न**	=(इसमें) संशय नहीं है।
मयि	=मुझमें	**ऊर्ध्वम्**	=बाद (तू)		

विशेष भाव—मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। भगवान्‌की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ एवं परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत जीव- (स्वयं-)का है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। मन-बुद्धि प्रकृतिकी जातिके हैं अर्थात् वे प्रकृतिके अंश हैं, पर हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। अतः स्वयं और मन-बुद्धिमें जातीय भिन्नता है। आकर्षण एवं मिलन सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं—यह नियम है। इसलिये मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेनेसे साधकसे यह भूल होती है कि वह स्वयं अलग रहकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका उद्योग करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान्‌में स्वयं ही लगता है, मन-बुद्धि नहीं लगते। जब स्वयं भगवान्‌में लगता है, तब मन-बुद्धि अपने-आप छूट जाते हैं अर्थात् उनकी सत्ता रहती ही नहीं, प्रत्युत एक भगवान् ही रह जाते हैं। कारण कि वास्तवमें मन-बुद्धिकी सत्ता थी ही नहीं, जीवने ही उनको सत्ता दी थी—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५), '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। इसलिये गीतामें '**मय्यासक्तमनाः**' (७। १), '**मन्मना भव**' (९। ३४, १८। ६५), '**मय्यावेश्य मनो ये माम्**' (१२। २), '**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**' (१२। ८), '**मच्चित्तः सततं भव**' (१८। ५७) आदि पदोंमें जो मन लगानेकी बात आयी है, वह वास्तवमें स्वयंको भगवान्‌में लगानेका ही उपाय है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—'**निवसिष्यसि मय्येव**'। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये और संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव स्वयं संसारमें लग गया, इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं। जैसे सुनार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसको अग्निमें तपाता है तो सोनेमें मिला हुआ विजातीय पदार्थ (खोट) अलग हो जाता है और शुद्ध सोना रह जाता है, ऐसे ही भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि अलग हो जाते हैं और स्वयं भगवान्‌में मिल जाता है अर्थात्

केवल भगवान् रह जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता रहती ही नहीं।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में लगते नहीं, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। भगवान्‌में लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। दूसरे शब्दोंमें, मन-बुद्धि संसारसे तो हट गये, पर भगवान्‌को पकड़ सके नहीं, इसलिये उनकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं, केवल भगवान् रह जाते हैं।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४) और भक्त भगवान्‌में स्थित होता है—'**निवसिष्यसि मय्येव**'। स्वरूपमें स्थित होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है और भगवान्‌में स्थित होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान अनन्तरसका अनुभव होता है। भगवान्‌में स्थित होनेपर फिर भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है*; क्योंकि उसका पहलेसे ही यह भाव है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं।

इस श्लोकमें यह क्रम बताया गया है कि भगवान्‌में पहले साधकका मन लगता है, फिर बुद्धि लगती है, फिर स्वयं लगता है। स्वयं लगनेसे अहम् मिट जाता है।

प्रेममें मन लगता है और श्रद्धामें बुद्धि लगती है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा होना अर्थात् संसारकी प्रियता और महत्ता न रहकर केवल भगवान्‌में ही प्रियता और महत्ता हो जाना।

~~~

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अथ	= अगर (तू)		करनेमें	**अभ्यासयोगेन**	= अभ्यासयोगके द्वारा (तू)
चित्तम्	= मनको	**न, शक्नोषि**	= अपनेको समर्थ नहीं मानता,	**माम्**	= मेरी
मयि	= मुझमें	**ततः**	= तो	**आप्तुम्**	= प्राप्तिकी
स्थिरम्	= अचलभावसे	**धनञ्जय**	= हे धनञ्जय!	**इच्छ**	= इच्छा कर।
समाधातुम्	= स्थिर (अर्पण)				

विशेष भाव—छठे अध्यायमें तो केवल '**अभ्यास**' की बात आयी थी (६। २६); परन्तु यहाँ '**अभ्यासयोग**' की बात आयी है, जिससे कल्याण हो जाता है। केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक स्थिति (अवस्था) बनेगी, पर कल्याण नहीं होगा।

मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्‌में लगाना अभ्यास है। अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)।

~~~

---

* **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अभ्यासे	=(अगर तू) अभ्यास-(योग-) में	**असि**	=है, (तो)	**कर्माणि**	=कर्मोंको
		मत्कर्मपरमः	=मेरे लिये कर्म करनेके परायण	**कुर्वन्**	=करता हुआ
				अपि	=भी (तू)
अपि	=भी (अपनेको)	**भव**	=हो जा।	**सिद्धिम्**	=सिद्धिको
असमर्थः	=असमर्थ (पाता)	**मदर्थम्**	=मेरे लिये	**अवाप्स्यसि**	=प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—अभ्यासकी अपेक्षा क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म स्वतः होते हैं; क्योंकि कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। इसलिये कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता ९। २७-२८)।

'**मदर्थमपि**' पदका तात्पर्य है कि आरम्भसे भगवान्‌के लिये ही कर्म किये जायँ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथ	=अगर	**अपि**	=भी	**यतात्मवान्**	=मन-इन्द्रियोंको वशमें करके
मद्योगम्	=मेरे योग-(समता-) के	**कर्तुम्**	=करनेमें (अपनेको)		
		अशक्तः	=असमर्थ (पाता)	**सर्वकर्मफल-त्यागम्**	=सम्पूर्ण कर्मोंके फल-की इच्छाका त्याग
आश्रितः	=आश्रित हुआ (तू)				
एतत्	=इस-(पूर्वश्लोकमें कहे गये साधन-) को	**असि**	=है,		
		ततः	=तो	**कुरु**	=कर।

विशेष भाव—अगर साधक सर्वथा भगवान्‌के लिये कर्म न कर सके तो उसको फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अभ्यासात्	=अभ्याससे	**ज्ञानात्**	=शास्त्रज्ञानसे	**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है (और)
ज्ञानम्	=शास्त्रज्ञान			**ध्यानात्**	=ध्यानसे (भी)
श्रेयः	=श्रेष्ठ है,	**ध्यानम्**	=ध्यान		

कर्मफल-			त्याग (श्रेष्ठ है);	**अनन्तरम्**	=तत्काल ही
त्यागः	=सब कर्मोंके	**हि**	=क्योंकि	**शान्तिः**	=परमशान्ति प्राप्त हो
	फलकी इच्छाका	**त्यागात्**	=त्यागसे		जाती है।

विशेष भाव—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं, पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंकी इस साधनमें निकृष्टबुद्धि है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मफलत्याग पहलेके तीनों साधनोंसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है।

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये **'मदर्थमपि कर्माणि'** (भगवान्‌के लिये कर्म करना) को नहीं लिया गया है। इसका कारण यह है कि **'मदर्थमपि कर्माणि'** अर्थात् भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही साधन श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागसे कर्मफलकी इच्छाका त्याग समझना चाहिये। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सर्वभूतानाम्	=सब प्राणियोंमें	**समदुःखसुखः**	=सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम,	**मयि**	=मुझमें
अद्वेष्टा	=द्वेषभावसे रहित			**अर्पित-**	
च	=और	**क्षमी**	=क्षमाशील,	**मनोबुद्धिः**	=अर्पित मन-
मैत्रः	=मित्रभाववाला	**सततम्**	=निरन्तर		बुद्धिवाला
	(तथा)	**सन्तुष्टः**	=सन्तुष्ट,	**यः**	=जो
करुणः	=दयालु	**योगी**	=योगी,	**मद्भक्तः**	=मेरा भक्त है,
एव	=भी (और)	**यतात्मा**	=शरीरको वशमें	**सः**	=वह
निर्ममः	=ममतारहित,		किये हुए,	**मे**	=मुझे
निरहङ्कारः	=अहंकाररहित,	**दृढनिश्चयः**	=दृढ़ निश्चयवाला,	**प्रियः**	=प्रिय है।

विशेष भाव—गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (२। ५५—७२, ६। ७—९), ज्ञानयोगीके लक्षण भी आये हैं (१४। २२—२५) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (१२। १३—१९)। परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्‌ने कहा है—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'**। यह लक्षण (मित्रता और करुणा) न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें

समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।

भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण प्राणी समग्र भगवान्‌का अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे?—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* (मानस, उत्तर० ११२ ख)। उदाहरणके लिये, किसीको राम प्रिय हैं, किसीको कृष्ण प्रिय हैं, किसीको शंकर प्रिय हैं तो इष्ट अलग-अलग होनेपर भी वे सब भक्त परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानयोगी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर भक्त और ज्ञानयोगी परस्पर मिलें तो भक्त ज्ञानयोगीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानयोगी भक्तका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—*'सबहि मानप्रद आपु अमानी'* (मानस, उत्तर० ३८। २)।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—*'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'* (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानयोगी नहीं! यद्यपि ज्ञानयोगीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेकमार्ग-(ज्ञान-)में वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानयोगीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

सुख लेनेमें कठोरता रहती है और सुख देनेमें कोमलता रहती है। ज्ञानयोगी मोक्षका भी सुख लेता है तो उसमें कठोरता रहती है। परन्तु दूसरेको सुख देनेका भाव होनेसे भक्तमें आरम्भसे ही कोमलता रहती है। भक्तके मनमें वैरीसे भी द्वेष नहीं होता। ज्ञानयोगी पिताकी तरह होता है और भक्त माँकी तरह, इसलिये भक्तमें करुणा ज्यादा होती है।

'एव' पद देनेका तात्पर्य है कि भक्त द्वेषभावसे रहित होता है—इतनी ही बात नहीं है, वह मित्रभाववाला और दयालु भी होता है।

'निर्ममो निरहङ्कारः'—प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है, इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२।७१), ज्ञानयोगमें **'अहङ्कारं..................विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (१८।५३) और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी'** (१२।१३)। इस विषयमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता-ममतासे रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी सबके लिये निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

कर्मयोगमें पहले 'कामना'का त्याग होता है, फिर कर्मयोगी स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है (गीता २। ७१)। ज्ञानयोगमें पहले 'अहंकार'का त्याग होता है, फिर ज्ञानयोगी स्वतः निर्मम हो जाता है (गीता १८। ५३)। भक्तियोगमें भक्त अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है तो भगवत्कृपासे वह स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—यहाँ **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** पद उस मनुष्यका वाचक है, जिसने स्वयंको (अपने-आपको) भगवान्‌के अर्पित कर दिया है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि भी स्वतः भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। स्वयं अर्पित होनेसे फिर कुछ बाकी रहता ही नहीं। कारण कि स्वयं पहले है, शरीर-मन-बुद्धि आदि पीछे हैं। भक्त पहले है, मनुष्य पीछे है। भगवान्‌में अर्पित होनेसे मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं।

भगवान्‌का परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंके साथ समान सम्बन्ध है, पर जीव-(परा-) का सम्बन्ध अपराके

साथ नहीं है। कारण कि जीव अपरा प्रकृतिसे उत्कृष्ट है और भगवान्‌का अंश है। इसलिये जीवका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। '**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**' का तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृति-(मन-बुद्धि-) को अपना न माने, प्रत्युत भगवान्‌को ही अपना माने*।

भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं। अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है। ऐसे भक्तके सिवाय भगवान्‌को प्यारा और कोई हो ही नहीं सकता।

जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्‌का अंश जीव जब असत्-जड़-दुःखरूप संसारसे कुछ आशा रखता है, तब वह भगवान्‌को नहीं सुहाता, प्यारा नहीं लगता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। भगवान्‌को वही प्यारा लगता है, जो अन्यसे आशा नहीं रखता तथा जिसमें जीवका परम हित होता है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

~~~

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

यस्मात्	=जिससे	**न, उद्विजते**	=उद्विग्न नहीं होता	**मुक्तः**	=रहित है,
लोकः	=कोई भी प्राणी	**च**	=तथा		
न, उद्विजते	=उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता	**यः**	=जो	**सः**	=वह
		हर्षामर्ष-			
च	=और	**भयोद्वेगैः**	=हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग-(हलचल-) से	**मे**	=मुझे
यः	=जो स्वयं भी				
लोकात्	=किसी प्राणीसे			**प्रियः**	=प्रिय है।

विशेष भाव—दूसरेको सत्ता देनेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*** (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

~~~

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

यः	=जो		रहित,	**दक्षः**	=चतुर,
अनपेक्षः	=अपेक्षा-(आवश्यकता-) से	**शुचिः**	=(बाहर-भीतरसे) पवित्र,	**उदासीनः**	=उदासीन,
				गतव्यथः	=व्यथासे रहित (और)

* यहाँ 'मन'के अन्तर्गत चित्तको और बुद्धिके अन्तर्गत अहम्‌को भी लेना चाहिये।

सर्वारम्भ-परित्यागी	=सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है,
सः	=वह
मद्भक्तः	=मेरा भक्त
मे	=मुझे
प्रियः	=प्रिय है।

विशेष भाव—'अनपेक्षः'—अमुक वस्तु आदि न हो तो काम कैसे चलेगा—यह अपेक्षा भक्तमें नहीं होती। भक्तकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, फिर वह किसकी अपेक्षा रखे? **'शुचिः'**—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध होती है! यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें शुरूसे ही सबकी हितैषिता **(मैत्रःकरुण एव च)** विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है। **'दक्षः'**—भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् वह कृत्कृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया, इसलिये वह 'दक्ष' है।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—यह पद चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें गुणातीत महापुरुषके लिये भी आया है—**'सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते'**। गुणातीत महापुरुषमें कर्तृत्व न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है और भक्तमें स्वार्थ तथा अभिमान न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है। भक्तको अपने लिये कुछ करना शेष है ही नहीं, फिर वह आरम्भ क्या करे? उसके द्वारा आरम्भ तो हो सकता है, पर उसमें उसका कोई लगाव, आसक्ति, प्रयोजन, आग्रह नहीं रहता, आरम्भ हो जाय तो ठीक, न हो तो ठीक! वह दोनोंमें सम रहता है।

~~~

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

यः	=जो
न	=न (कभी)
हृष्यति	=हर्षित होता है,
न	=न
द्वेष्टि	=द्वेष करता है,
न	=न
शोचति	=शोक करता है,
न	=न
काङ्क्षति	=कामना करता है (और)
यः	=जो
शुभाशुभ-परित्यागी	=शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ राग-द्वेषरहित है,
सः	=वह
भक्तिमान्	=भक्तिमान् मनुष्य
मे	=मुझे
प्रियः	=प्रिय है।

विशेष भाव—हर्ष **(हृष्यति)** और शोक **(शोचति)**, राग **(काङ्क्षति)** और द्वेष **(द्वेष्टि)**—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। नारदभक्तिसूत्रमें भी आया है—

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

'जिस भक्तिके प्राप्त होनेपर भक्त न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे किसी वस्तुकी प्राप्तिमें उत्साह (हर्ष) होता है।'

~~~

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

पद	अर्थ
शत्रौ	=(जो) शत्रु
च	=और
मित्रे	=मित्रमें
तथा	=तथा
मानापमानयोः	=मान-अपमानमें
समः	=सम है (और)
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु	=शीत-उष्ण (शरीर-की अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख-(मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता-) में
समः	=सम है
च	=एवं
सङ्गविवर्जितः	=आसक्तिरहित है (और)
तुल्यनिन्दा-स्तुतिः	=जो निन्दा-स्तुतिको समान समझने-वाला,
मौनी	=मननशील,
येन	=जिस
केनचित्	=किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें)
सन्तुष्टः	=सन्तुष्ट,
अनिकेतः	=रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित (और)
स्थिरमतिः	=स्थिर बुद्धिवाला है,
भक्तिमान्	=(वह) भक्तिमान्
नरः	=मनुष्य
मे	=मुझे
प्रियः	=प्रिय है।

विशेष भाव—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। अगर इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं आयेगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना 'समता' है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें सम दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

'शीतोष्णसुखदुःखेषु'—भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है और मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है। तात्पर्य है कि भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, इन्द्रियोंकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धान्तकी अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब तरहकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है और न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

'यो मद्भक्तः स मे प्रियः', **'भक्तिमान्मे प्रियो नरः'** आदि पदोंका तात्पर्य है कि वे भक्तिके कारण भगवान्‌को प्रिय हैं, गुणों-(लक्षणों-) के कारण नहीं। गुण मुख्य नहीं हैं, प्रत्युत भक्ति मुख्य है।

~~~~

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

पद	अर्थ
तु	=परन्तु
ये	=जो (मुझमें)
श्रद्दधानाः	=श्रद्धा रखनेवाले (और)
मत्परमाः	=मेरे परायण हुए
भक्ताः	=भक्त
इदम्	=इस
धर्म्यामृतम्	=धर्ममय अमृतका
यथा, उक्तम्	=जैसा कहा है, (वैसा ही)
पर्युपासते	=भलीभाँति सेवन करते हैं,
ते	=वे
मे	=मुझे
अतीव	=अत्यन्त
प्रियाः	=प्रिय हैं।
~~~~

विशेष भाव—कर्तव्यको 'धर्म' कहते हैं। जो धर्मसे विचलित, इधर-उधर नहीं होता, उसको 'धर्म्य' कहते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसके समान दूसरा कोई सिद्धान्त है ही नहीं, इसलिये यह 'धर्म्य' है (गीता ९। २)।

श्रद्धा साधकमें होती है। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे! साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह उपासना करता है (**पर्युपासते**) अर्थात् अपना जीवन वैसा बनाता है; परन्तु उसका भाव यह रहता है कि भगवान्‌के सिवाय अगर कुछ है तो वह भी भगवान्‌की ही लीला है।

दूसरी सत्ताकी मान्यता होते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा होता है। जबतक उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता, तबतक भगवान् उसके ऋणी रहते हैं!

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।'

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

विज्ञानसहित ज्ञान

जितने भी शास्त्र (दर्शन) हैं, उनके दो विभाग हैं— ईश्वरको माननेवाले और ईश्वरको न माननेवाले। ईश्वरको माननेवाले शास्त्रोंमें गीता मुख्य है। गीताका खास सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं। जिन दार्शनिकोंने अपने दर्शन-(अनुभव-) में, अपने मतमें पूर्ण सन्तोष कर लिया, वे तो वहीं रुक गये, पर जिन्होंने अपने दर्शनमें सन्तोष नहीं किया, उन्होंने **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर लिया। **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद सर्वथा मिट जाता है और वे सब एक हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका ही विवेचन आता है; क्योंकि इन तीनोंके सिवाय चौथी कोई वस्तु है ही नहीं। इन तीनोंको गीताने अनेक नामोंसे कहा है; जैसे—'जगत्'को अपरा, क्षेत्र, क्षर आदि, 'जीव'को परा, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि और 'परमात्मा' को ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा है। भगवान्‌ने गीतामें अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनोंको ही अपनी प्रकृति (स्वभाव या शक्ति) बताया है (७। ४-५)। जैसे शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, ऐसे ही परमात्माके बिना जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परमात्माके ही एक अंशमें जीव है और जीवके ही एक अंशमें जगत् है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इसलिये गीतामें जगत्, जीव और परमात्माके वर्णनका तात्पर्य उनको अलग-अलग बतानेमें नहीं है, प्रत्युत सबको एक और अभिन्न बतानेमें ही है*।

परा और अपरा—दोनों प्रकृतियोंके साथ परमात्माका समान सम्बन्ध है। परन्तु परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ नहीं है। कारण कि परा और अपरा—दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है और अपरा (शरीर-संसार) निरन्तर परिवर्तनशील तथा विनाशी है। परा प्रकृति परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके ही स्वभाववाली है अर्थात् जैसे परमात्मा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी स्वभाववाले हैं, ऐसे ही उनका अंश परा प्रकृति भी है। तात्पर्य यह हुआ कि जीव परमात्माका अविभाज्य अंश है और शरीर संसारका अविभाज्य अंश है।

जीव तथा परमात्मा 'प्राप्त' हैं और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर तथा संसार 'प्रतीति' हैं। 'प्राप्त' सत्-रूप है और 'प्रतीति' असत्-रूप है। असत्‌की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि

*** एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।**
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेताश्वतर० १। १२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये; क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जगत्) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ब्रह्म ही है अर्थात् जीव, जगत् और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'

'प्राप्त' दीखता नहीं है, पर उसकी सत्ता मौजूद है और 'प्रतीति' दीखती तो है, पर उसकी सत्ता मौजूद है ही नहीं। मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—यह 'प्रतीति' को लेकर है और मैं साधक (योगी, मुमुक्षु, भक्त आदि) हूँ—यह 'प्राप्त' को लेकर है। जब मनुष्यमें 'प्रतीति'की मुख्यता होती है, तब वह संसारी होता है और जब उसमें 'प्राप्त'की मुख्यता होती है, तब वह साधक होता है। इसलिये साधकमें 'प्राप्त'की मुख्यता होनी चाहिये। प्रतीतिकी मुख्यता होनेसे साधनकी सिद्धिमें बहुत कठिनता होती है। मुक्ति अथवा भक्तिकी प्राप्ति प्रतीतिको नहीं होती, प्रत्युत 'प्राप्त' (स्वयं-) को ही होती है। इसलिये भगवान्ने सातवें अध्यायमें अपने भक्तोंके चार प्रकार (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) बताकर नवें अध्यायमें कहा कि दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय—ये सभी व्यक्ति चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं (७। १६; ९। ३०—३३)। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहें तो भगवान्की प्राप्ति दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं होती, प्रत्युत 'भक्त' (स्वयं-)को होती है!* (गीता ९। ३३)। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी मुख्यता रखनेवाला कोई भी मनुष्य भोगी तो बन सकता है, पर योगी नहीं बन सकता।

जो 'प्राप्त' है, वह 'परा प्रकृति' है और जो 'प्रतीति' है, वह 'अपरा प्रकृति' है। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्की होनेसे भगवत्स्वरूप हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु जीव-(परा-) ने जगत्-(अपरा-) को धारण कर लिया अर्थात् उसको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर अपना मान लिया—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। यही जीवकी मूल भूल है, जिसके कारण वह जगत् बन गया (गीता ७। १३) अर्थात् जगत्की तरह परिवर्तनशील, जन्मने-मरनेवाला बन गया। इस भूलको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह 'परा'को अर्थात् अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर दे और 'अपरा'को अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पित कर दे, संसारकी सेवामें लगा दे। 'मैं भगवान्का और भगवान्के लिये ही हूँ'—ऐसा स्वीकार कर लेना अपने-आपको भगवान्के अर्पित करना है और 'शरीर संसारका और संसारके लिये ही है'—ऐसा अनुभव कर लेना शरीरको संसारके अर्पित करना है। इस प्रकार भगवान्की चीज भगवान्को दे दी—यह 'भक्तियोग' हो गया, संसारकी चीज संसारको दे दी—यह 'कर्मयोग' हो गया और न तो भगवान्से तथा न संसारसे ही कुछ चाहनेसे स्वयं असंग हो गया—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सिद्ध होनेसे परा और अपराकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता मिट जाती है और '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव हो जाता है।

जो अपना कल्याण चाहता है, वह अगर अपरा-(जगत्-)को सच्चा मानता है तो उसके लिये 'कर्मयोग' (भौतिक साधना) है, अगर परा-(जीव अर्थात् चेतन-) को सच्चा मानता है तो उसके

---

* **नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो**
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ; न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

लिये 'ज्ञानयोग' (आध्यात्मिक साधना) है और अगर परमात्माको सच्चा मानता है तो उसके लिये 'भक्तियोग' (आस्तिक साधना) है। अगर वह किसीको भी सच्चा नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा! कारण कि किसीको भी न माननेसे उसपर संसार आदिका प्रभाव नहीं पड़ेगा और वह स्वतः निर्विकल्प हो जायगा। मनुष्यपर उसी वस्तुका असर पड़ता है, जिसको वह सच्चा मानता है।

हमने संसारकी चीज संसारको दे दी तो अब हम संसारसे कुछ चाहनेके अधिकारी ही नहीं रहे। इसी तरह भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमें स्वतः प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी (गीता ७। १७)। प्रेमसे बढ़कर कोई चीज है ही नहीं, जिसकी चाहना हम भगवान्‌से करें। संसारकी चीज संसारको देना 'योग' है और संसारसे कुछ चाहना 'भोग' है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌को देना 'योग' है और भगवान्‌से कुछ माँगना 'भोग' है।

वास्तवमें मनुष्यशरीर कर्मयोनि अथवा भोगयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यको प्रेमके लिये ही बनाया है—**'एकाकी न रमते'**। इसलिये प्रेमकी प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌को अपना मान सकता है, भगवान्‌से कह सकता है कि मैं तेरा हूँ, तू मेरा है अथवा केवल तू-ही-तू है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको जीवोंके लिये बनाया है और मनुष्यको अपने लिये बनाया है। मनुष्यमें संसारको अपना न माननेकी और भगवान्‌को अपना माननेकी जो योग्यता और सामर्थ्य है, वह भी वास्तवमें भगवान्‌की ही दी हुई है। भगवान्‌की दी हुई योग्यता और सामर्थ्यसे ही मनुष्य भगवान्‌से प्रेम करता है।

संसार निरन्तर बदलनेवाला (अप्राप्त) है तथा अपना नहीं है, फिर भी वह हमारेको प्रिय लगता है और परमात्मा सब देश, काल आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान (नित्यप्राप्त) हैं तथा अपने हैं, फिर भी वे हमारेको प्रिय नहीं लगते! इसका कारण यह है कि हम संसारकी निन्दा तो करते हैं, पर उसकी सत्ता और महत्ता नहीं है तथा वह अपना नहीं है—यह अनुभव नहीं करते। इसी तरह हम परमात्माकी महिमा तो गाते हैं, पर उनको सत्ता और महत्ता देकर अपना स्वीकार नहीं करते। इसलिये साधकका खास काम है—विवेकपूर्वक संसारको अपना न मानना और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌को अपना मानना, जो कि वास्तविकता है।

जब मनुष्य संसारको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब उसको अपनी और संसारकी (परा और अपराकी) स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीव जगत्‌के अधीन (पराधीन) हो जाता है और जन्म-मरणमें पड़कर दुःख पाता है (गीता ८। १९, ९। ८)। इस पराधीनतासे छूटनेके लिये साधकके लिये तीन खास बातें हैं—(१) मेरा कुछ नहीं है। (२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये। (३) मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

(१) हमारा स्वरूप (स्वयं) सत्तामात्र है। इस स्वरूपके साथ कुछ भी नहीं है। संसारकी कोई भी वस्तु और क्रिया स्वरूपतक नहीं पहुँचती। तात्पर्य यह हुआ कि अपने पास अपने सिवाय कुछ भी नहीं है। 'मैं' कहलानेवाला स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भी अपने साथ नहीं है और हम उसके साथ नहीं हैं। अगर शरीर हमारे साथ रहता तो हमारे अनेक जन्म कैसे होते? हम अनेक शरीर कैसे धारण करते? अगर हम शरीरके साथ रहते तो मुक्ति कभी होती ही नहीं। प्रत्येक

देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, अवस्था आदिमें निरन्तर परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, पर अपनेमें (स्वरूपमें) कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। इन देश, काल आदि सबके अभावका अनुभव हमें होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परिवर्तनशील एवं नाशवान् वस्तु (शरीर-संसार) अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी तत्त्वके साथ कैसे रह सकती है और उसके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात सूर्यके साथ कैसे रह सकती है और सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर, बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, सुन्दरता आदि संसारके ही काम आते हैं, हमारे काम किंचिन्मात्र भी नहीं आते। तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति और उसके कार्य शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किंचिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता, हो सकता भी नहीं। अनन्त ब्रह्माण्ड मिलकर भी हमारी पूर्ति, सन्तुष्टि नहीं कर सकते। इसलिये अनन्त सृष्टियों, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी हो और हमारे लिये हो!

जीव और परमात्मा—दोनों ही अकिंचन हैं। जीव इसलिये अकिंचन है कि उसके लिये संसारमें 'मेरा कुछ नहीं है' अर्थात् उसका भगवान्‌के सिवाय और किसीसे सम्बन्ध नहीं है, और परमात्मा इसलिये अकिंचन हैं कि उनके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (गीता ७। ७), **'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक उसके पास कुछ नहीं है और जब उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। उसकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता हो जाती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८), **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९। २९)। इसलिये भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे कहा है कि 'हम सदाके अकिंचन हैं और अकिंचन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं और वे हमारेसे प्रेम करते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

भगवान् दर्शन भी अकिंचन भक्तोंको ही देते हैं— **'त्वामकिञ्चनगोचरम्'** (श्रीमद्भा० १। ८। २६)। इसलिये कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है—ऐसा स्वीकार करके अनुभव करते ही हम अकिंचन हो जाते हैं, भगवान्‌के प्रेमी हो जाते हैं—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (गीता ७। १७)।

(२) इच्छा अभावसे पैदा होती है। सत्तामात्र अपने स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। इसलिये अपनेमें कोई इच्छा नहीं होती। जब अनन्त सृष्टिमें कोई वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं और कोई वस्तु स्वयंतक पहुँच सकती ही नहीं, हमें प्राप्त हो सकती ही नहीं तो फिर किसकी इच्छा करें और क्यों करें? जिस शरीरको हम 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानते हैं, वह शरीर भी हमें आजतक प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं। कारण कि वह निरन्तर बदलता है और हम निरन्तर रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरका स्वयंसे कभी संयोग हुआ ही नहीं; क्योंकि ये दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसलिये न तो हमें संसारसे कुछ चाहिये और न भगवान्‌से ही कुछ चाहिये। संसारसे इसलिये कुछ नहीं चाहिये कि उसके पास

ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो वह हमें दे सके। भगवान्‌से भी शान्ति, मुक्ति, सद्‌गति, दर्शन आदि कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि इनको देना भगवान्‌का कर्तव्य है, जो उनके अधीन है। हमारा काम भगवान्‌को उनका कर्तव्य बताना नहीं है, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करना है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानकर अपनेको सर्वथा अर्पण कर दें और भगवान्‌से कुछ भी न माँगें; क्योंकि वास्तवमें भगवान्‌के सिवाय अपना कोई है ही नहीं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी वस्तुको अपना माननेसे भगवान्‌से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् विमुखता होती है। इसी तरह भगवान्‌से कोई वस्तु माँगनेसे उस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और देनेवाले-(भगवान्-)से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुओंको तो अपना मानता है, पर उनको देनेवालेको अपना नहीं मानता! मिली हुई वस्तुएँ तो बिछुड़ जायँगी, पर भगवान् नहीं बिछुड़ेंगे।

(३) सत्तामात्र हमारे स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है। स्वयं किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करता—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५।८), **'नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४।२०)। मनुष्य जो कुछ करता है, कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही करता है। जब सृष्टिमात्रमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं तो फिर किसको पानेके लिये कर्म किया जाय? इसलिये हमें अपने लिये कुछ करना है ही नहीं।

अगर हम शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना मानें तो कभी सर्वथा निष्काम हो सकते ही नहीं; क्योंकि शरीरको रोटी-कपड़ा आदि सब कुछ चाहिये। सर्वथा निष्काम हुए बिना क्रियाका त्याग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कामना-पूर्तिके लिये क्रिया करनी ही पड़ेगी। इसलिये 'मेरा कुछ नहीं है'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है, और 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है।

'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा माननेसे मनुष्य ममतारहित हो जाता है, 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा माननेसे कामनारहित हो जाता है और 'मेरेको (अपने लिये) कुछ नहीं करना है'—ऐसा माननेसे कर्तृत्व-रहित हो जाता है। ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेसे मनुष्य 'स्व'में स्थित अर्थात् 'मुक्त' हो जाता है*। अगर साधक अपनी सत्ताको परमात्माकी सत्ताके अर्पित कर देता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसी आत्मीयता (अभिन्नता) स्वीकार कर लेता है तो वह 'स्वकीय'में स्थित अर्थात् 'भक्त' हो जाता है।

अगर कोई साधक ज्ञानमार्ग-(निर्गुणोपासना-) का आग्रह रखकर भक्तिमार्ग-(सगुणोपासना-)की उपेक्षा, अनादर, खण्डन, निन्दा अथवा तिरस्कार करता है तो उसको मुक्त होनेके बाद भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होगी। अगर साधक अपने साधनका आग्रह न रखे, भक्तिकी उपेक्षा, तिरस्कार न करे, प्रत्युत उसका

---

* **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः....................................।
(गीता २।७१-७२)

आदर करे तो उसको मुक्त होनेके बाद भक्तिकी प्राप्ति स्वत:-स्वाभाविक हो जायगी। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने **'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि'** (४। ३५) पदोंसे कहा है कि 'तत्त्वज्ञान होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको नि:शेषभावसे पहले अपनेमें देखेगा' **(द्रक्ष्यसि आत्मनि)**—यह मुक्तिकी प्राप्ति है, और 'उसके बाद मेरेमें देखेगा' **(अथो मयि)**—यह भक्तिकी प्राप्ति है। वास्तवमें हम शरीरके साथ कभी मिल सकते ही नहीं और परमात्मासे कभी अलग हो सकते ही नहीं। अत: मुक्त होना और भक्त होना वास्तविकता है।

मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गंध रह जाती है, जिससे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतभेद पैदा होते हैं, पर प्रेमकी प्राप्तिमें अहम्‌का सर्वथा अभाव हो जाता है*, जिससे सम्पूर्ण मतभेद मिटकर **'वासुदेव: सर्वम्'**का अर्थात् परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव हो जाता है। यही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ जाननेयोग्य शेष रहता ही नहीं—**'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** (गीता ७। २) और जिसको जानकर साधक जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है—**'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (गीता ९। १)। इसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन भगवान्‌ने सातवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें किया है। फिर बारहवें अध्यायमें इसका निर्णय किया है कि केवल ज्ञानकी अपेक्षा विज्ञानसहित ज्ञान श्रेष्ठ है। कारण कि 'ज्ञान'में निर्गुणकी उपासना है और 'विज्ञान'में सगुण-(समग्र-) की उपासना है। सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। परन्तु निर्गुणकी उपासना समग्रके एक अंगकी उपासना है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध होनेसे उसके अन्तर्गत सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, जबकि सगुण-(समग्र-)में किसीका भी निषेध न होनेसे निर्गुण भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये सगुणका उपासक विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है (गीता ७। २९-३०)।

'ज्ञान'से मुक्ति प्राप्त होती है और 'विज्ञान'से भक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिमें परमात्मासे सधर्मता होती है—**'मम साधर्म्यमागता:'** (गीता १४। २) और भक्तिमें परमात्मासे आत्मीयता (अभिन्नता) होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व भक्ति ही है; अत: इसीकी प्राप्तिमें मानवजीवनकी पूर्णता है।

~~~~

* **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**

(मानस, उत्तर० ४९। ३)
~~~~